।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक पाँचवाँ

६५

भाद्रपद
२४७६

कौन प्रशंसनीय है?

इस जगत में जो आत्मा, निर्मल सम्यग्दर्शन में अपनी बुद्धि निश्चल रखता है, वह कदाचित् पूर्व पाप-कर्म के उदय से दुःखी भी हो और अकेला भी हो, तथापि वास्तव में प्रशंसनीय होता है और इससे विपरीत, जो जीव अनन्त आनन्ददायक ऐसे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से बाह्य हैं और मिथ्यामार्ग में स्थित हैं – ऐसे मिथ्यादृष्टि मनुष्य भले ही अनेक हों, और वर्तमान में शुभकर्म के उदय से प्रसन्न हों, तथापि वे प्रशंसनीय नहीं हैं। इसलिए भव्यजीवों को सम्यग्दर्शन धारण करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

पद्मनन्दि-देशव्रतोद्योतन अधिकार-२

एक अंक
चार आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

दश लक्षण धर्म

"देवाधिदेव मुखतो निसरो"

भाद्रपद
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
अंक–५

भव का अन्त करने के सम्बन्ध में

श्रीमद् राजचन्द्रजी की घोषणा

[वीर सं० २४७५ वैशाख वदी ५ के दिन राजकोट में पू० श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

आज श्रीमद् राजचन्द्रजी के समाधिमरण का दिन है। सच्चा समाधिमरण किसे कहा जाये? समाधिमरण का यथार्थस्वरूप क्या है? आज वह बात यहाँ आयेगी?

आत्मा अनन्तकालीन-अनादि अनन्त स्थायी रहनेवाला, नित्य अस्तित्व रखनेवाला–होनेरूप पदार्थ है। अनादि-अनन्त रहनेवाले, ज्ञानस्वरूप आत्मा को वर्तमानदशा में भूल के कारण भ्रमण करना पड़ता है। आत्मा स्वभाव से ज्ञाता-दृष्टा, शुद्ध चैतन्य, आनन्दस्वरूप होने पर भी अनादि से वर्तमान अवस्था में–'यह शरीर मैं हूँ, शरीर के कार्य मुझसे होते हैं, पर-पदार्थों से मेरे आत्मा को लाभ होता है, तथा दया, दानादि विकारी भावों से मेरा हित होता है'–ऐसी विपरीत मान्यतारूप भ्रमणा तथा राग-द्वेषादि विकारी भावोंरूप परिणमित होता है; और उसके कारण अनादि संसार में उसका भ्रमण होता रहता है।

अब, आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को जैसा है, वैसा समझे कि–शरीरादि परपदार्थ मेरे नहीं हैं; मैं उनसे भिन्न चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा हूँ, तथा दया, पूजा, दानादि राग के परिणाम भी मेरा स्वरूप नहीं है। वह मेरा सच्चा आनन्दस्वरूप नहीं है, क्योंकि उन विकारी भावों के लक्ष्य से मुझे उत्थान और आकुलता उत्पन्न होते हैं,–ऐसी प्रतीति करे तो इस आत्मा को परिभ्रमण न रहे। ऐसा पर से तथा रागादि से भिन्न आत्मा का यथार्थ स्वरूप अनादिकाल से जीव एकक्षण भी नहीं समझ पाया है। यदि ऐसा यथार्थ स्वरूप एकक्षण मात्र भी समझे तो उसे अन्तरङ्गदशा में स्वभाव से विश्वास हो कि अल्पकाल में मेरी मुक्ति होगी। आत्मा का भान होने से प्रथम ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है।

उस सम्यग्ज्ञान में आत्मा को ऐसा भास होता है कि अल्पकाल में मेरी परमात्मपद की

प्राप्ति का समय है। परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय अथवा परमात्मपद की प्राप्ति का सच्चा पंथ– एकावतारी होने का काल मुख्यतया मनुष्य देह में होता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी का बिल्कुल छोटी आयु में देहावसान हुआ था। मात्र तेतीस वर्ष की आयु में उनकी देह छूटी थी। उन्हें छोटी आयु में जातिस्मरण यानी पूर्वभवों का स्मरण हुआ था। पूर्व के संस्कार और ज्ञान का विकास उनके बहुत था। उन्होंने १६ वर्ष की आयु के पहले 'पुष्पमाला' रची थी; उसमें प्रथम ही यह वाक्य लिखा है कि :–

'रात्रि व्यतीत हो गई, प्रभात हुआ, निद्रा से मुक्त होने के लिए भावनिद्रा टालने का प्रयत्न करना!'

शरीर की इतनी छोटी बालवय में प्रथम ही यह वाक्य लिखा गया है। उनके अक्षरदेह का यह प्रथम वाक्य है। इसमें आत्मा को अज्ञानरूप भावनिद्रा टालकर अन्तरंग स्वभाव की जागृति करने के लिए कहा है। जीव अनादि से–'शरीर मेरा है, शरीर के तथा बाह्य के अन्य पदार्थों के कार्य मेरे कारण होते हैं, राग-द्वेष-पुण्य-पाप विकारी भाव मेरे हैं'–इस प्रकार पदार्थों को तथा अज्ञानादि विकारी भावों को अपना मानता है। वह मान्यता भूल है, भ्रम है, मिथ्या है। यह मिथ्या मान्यता जीव अपने मूल शुद्धस्वरूप का भान न होने से–वर्तमानदशा में–अवस्था में अनादि से करता आ रहा है। उस भूल के कारण जीव परिभ्रमण करता है और भिन्न-भिन्न अवतार धारण करके दुःखी होता है।

जीव की वह भूल दूर करने का उपाय भी एक ही है। श्रीमद् ने स्वयं आत्मसिद्धि में कहा है कि –

'एक होय त्रणकालमां, परमारथनो पंथ।'

आत्मा के परमार्थ स्वभाव की जागृति के पंथ विविध प्रकार के नहीं होते। स्वभाव की अन्तर-जागृति का पंथ त्रिकाल में एक ही होता है, दूसरे प्रकार का नहीं होता। जीव ने जो शरीरादि बाह्य पदार्थों को, तथा दया, दानादि विकारीभावों को अपना माना है, उनसे भिन्न अपने त्रिकाली चैतन्यस्वभाव को पर तथा विकाररहित जानना अर्थात् आत्मा की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान और स्वभाव में स्थिरतारूप चारित्र करना, वह भावनिन्द्रा अर्थात् भूल-भ्रमण को दूर करने का उपाय है।

रात्रि व्यतीत हो गई, सवेरा हुआ, (बाह्य) निन्द्रा से जागृत हुए, परन्तु भावनिद्रा दूर करने का प्रयत्न करना! भावनिंद्रा अर्थात् पर-पदार्थ से मुझे लाभ-हानि होता है, मैं पर-पदार्थ को लाभ-हानि कर सकता हूँ–वैसी मिथ्या मान्यता को दूर करने का प्रथम प्रयत्न करना। यहाँ दूसरा कुछ करना–पर की दया पालना, पर की सेवा करना इत्यादि कुछ भी नहीं कहा है; लेकिन सर्वप्रथम

कहा है कि–मिथ्यामान्यतारूपी भावनिद्रा को दूर करना। क्योंकि कोई पदार्थ किसी पर पदार्थ की सेवा या भला कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक पदार्थ भिन्न सत्तावाला है; वह अपनी सत्ता-अस्तित्व अपने से ही रखता है। उस पदार्थ का भला-बुरा अपने अस्तित्व में अपनी सत्ता में होता है। उसकी सत्ता में कोई दूसरा पदार्थ भला-बुरा नहीं कर सकता, दोनों पदार्थों की सत्ता भिन्न-भिन्न है। भावनिद्रा अर्थात् भूल-मिथ्या मान्यता अपनी पर्याय की सत्ता में अपनी अवस्था में होती है, इससे उस भावनिद्रा को हटाने का उपदेश किया है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव ने आत्मा का स्वरूप परिपूर्ण प्रत्यक्ष एक समय में–अल्प से अल्पकाल में जाना है। उन्होंने स्वयं जानकर यह आत्मा का स्वरूप कहा है कि यह आत्मा स्वभाव की अर्थात् अनन्त गुणों की खान है, उसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण हैं। ऐसे अनन्त स्वभाव की महिमा वाले आत्मा को पहचान बिना–'यह शरीर मेरा है, उसके सब कार्य मेरे करने से होते हैं, शरीर को चलाना, खिलाना, पिलाना आदि मेरी इच्छानुसार मैं कर सकता हूँ–इस प्रकार शरीर में एकत्वबुद्धि–अपनत्व की मान्यता तथा पुण्य-पाप के भाव अथवा दया-दानादि के विकारीभाव मेरे हैं, उनके द्वारा मेरा कल्याण होगा, बाह्य की अनुकूल सामग्री हो तो मेरा हित हो'–ऐसी, त्रिकाल स्वाधीन चैतन्यस्वभाव से च्युत होकर पराधीन मान्यता, वह भावमरण अथवा निद्रा है। ऐसी मिथ्या मान्यता और दयादि शुभराग के भावों से रहित चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की शक्तिवाला यह मेरा आत्मा है–ऐसा न मानकर विपरीत मान्यता से तथा रागादि भावों से आत्मा का कल्याण हो–ऐसी मान्यता, वह भावनिद्रा है। इस भावनिद्रा से रहित आत्मा का त्रिकाली जागृत-ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप जैसा है, उसे वैसा ही–यथावत् समझना, वह भावनिद्रा दूर करके स्वभाव में जागृत होने का उपाय है। वही कल्याण तथा आत्महित का मार्ग है।

आत्मा की यह यथार्थ बात सबको समझना है। बालक, युवा तथा वृद्ध–सभी का आत्मा यह बात समझ सकता है; क्योंकि कोई आत्मा युवा, वृद्ध या बालक नहीं है। अनादि के सभी आत्मा प्रवर्तित होते हुए वर्तमान क्षण तक आये हैं। कोई आत्मा भविष्य के क्षण में वर्तमान में नहीं पहुँच गया है; इसलिए कोई छोटा-बड़ा नहीं है। जो भी छोटे-बड़े का भेद लोगों द्वारा माना जाता है, वह मात्र शरीर की हड्डियाँ तथा चर्बी की पुष्टि और कृशता की अपेक्षा से है। शरीर पुष्ट हो, शरीर में चर्बी के रजकण खूब हों तो उसे लोग जवान कहते हैं। शरीर कृश हो –चर्बी कम हो गई हो, खाल सिकुड़ गई हो, उसे लोग वृद्ध कहते हैं; लेकिन उसमें कहीं आत्मा छोटा-बड़ा नहीं है। कोई दस-बीत वर्ष पहले इस शरीर में आया और कोई दस-बीस वर्ष बाद इस शरीर में आया, इससे इस शरीर में आने की अपेक्षा से छोटे-बड़े के भेद कहलाते हैं; इसलिए कोई आत्मा छोटा-

बड़ा नहीं है; सभी आत्मा अपने स्वभाव को समझ सकते हैं और अनादिकालीन भावनिद्रा को दूर कर सकते हैं।

यह भगवान आत्मा इन देहादि की अवस्था से तो पार है; परन्तु जो दया, दान, पूजा की वृत्ति का शुभ उत्थान हो –जिसे त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव पुण्य अर्थात् शुभ विकार कहते हैं – उससे चैतन्य को लाभ होता है – ऐसी मान्यता को भी भावनिद्रा तथा भावमरण कहा है।

यथार्थ समाधिमरण अर्थात् अज्ञान और राग-द्वेषस्वरूप भावमरण से रहित दशा क्या है? उसकी बात चलती है। श्रीमद् राजचन्द्रजी देह की अन्तस्थिति के समय राजकोट में, अपने घर आरामकुर्सी पर बैठे थे। उनके भाई मनसुखलाल और माता तथा बहनोई आदि कुटुम्बीजन कमरे के बाहर बैठे थे। अन्तिम समय उन्होंने मनसुखभाई से कहा था कि भाई मनसुख, मुझे कोई बुलाना मत, मैं अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होता हूँ! इस प्रकार श्रीमद् ने शरीरादि से भिन्न आत्मा के स्वभाव के भानपूर्वक अन्तरलीनतारूप समाधिपूर्वक-अन्तरस्वभाव की आनन्ददशा में शरीर छोड़ा। ऐसे मरण को समाधिमरण कहते हैं।

श्रीमद् को आत्मस्वभाव की जागृति अर्थात् पर से और रागादि विकारी भावों से रहित त्रिकाली चैतन्यस्वभाव का ज्ञान बहुत वर्ष पहले हुआ था; उस सम्यग्ज्ञान के बल द्वारा देह की अन्तस्थिति में उन्हें समाधिमरण अर्थात् आत्मा की अन्तरशान्तिपूर्वक देह-त्याग हुआ। श्रीमद् ने अन्तरंग आत्मस्वभाव की पहचान तथा स्वभाव की शान्ति अपने आत्मा में से प्रगट की थी; उन्होंने बाह्य में कुछ नहीं किया था। वे गृहस्थ थे; स्त्री-बच्चे, व्यापार-धन्धा आदि थे। बाह्य में अनेक संयोगों के निकट होने पर भी उनसे भिन्न आत्मा का उनको भान था; इससे उन्हें अन्तरसमाधि और शान्ति थी। और दया-दानादि के भाव राग हैं, विकार हैं; उस ओर उन्मुखता की वृत्ति से जीव को आकुलता होती है, असमाधि होती है। तथा पर-पदार्थों का ग्रहण-त्याग किया ही नहीं जा सकता; क्योंकि भिन्न अस्तित्व रखनेवाली वस्तु अपने से स्वयं वर्त रही है; उसका परसत्ता द्वारा ग्रहण-त्याग नहीं हो सकता। यदि परसत्ता द्वारा परसत्ता का ग्रहण-त्याग हो तो उसकी भिन्न सत्ता अस्तित्वरूप न रहने से उसका नाश हो जाये, लेकिन ऐसा कभी नहीं होता। ऐसा अपूर्व भेद-विज्ञान श्रीमद् को था। पूर्व के संस्कार तथा अपूर्व वर्तमान पुरुषार्थ द्वारा उन्हें ऐसा आत्मस्वभाव का ज्ञान हुआ था। पूर्व के संस्कार हों, परन्तु वर्तमान में उन संस्कारों का स्मरण करके बनाए रखना, वह वर्तमान नवीन पुरुषार्थ है। उस वर्तमान नवीन पुरुषार्थ द्वारा 'मैं आत्मा त्रिकाली चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा हूँ; देह, वाणी, तथा रागादि दोषों से रहित भिन्न हूँ'–ऐसा भान उन्हें था; और ऐसा आत्मा का यथार्थ भान-यथार्थ प्रतीति करना, वह अपूर्व नवीन-अनादि से नहीं किया हुआ-करना

है। इसके अतिरिक्त जगत् में दूसरा कुछ भी अपूर्व नहीं है।

यह आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दकन्द, जैसा त्रिकोलीनाथ तीर्थङ्करदेव भगवान ने देखा है, वैसा ही उसे समझना और राग, दया, दानादि विकारीभावों का स्वभाव की रमणता–स्थिरता द्वारा नाश करना- अन्तरंग रागरहित शान्ति प्रगट करना, वह समाधि है। इसके अतिरिक्त लोग श्वास को रोकने आदि की क्रिया को समाधि मानते हैं, वह समाधि नहीं है। श्वास का रुकना तो जड़ की क्रिया है, उस पर आत्मा का अधिकार नहीं है। आत्मा का अधिकार अन्तर में आत्मा की शान्ति पर है; परपदार्थ पर नही है। श्वास का ऊँचा-नीचा होना, वह जड़ की क्रिया है, और उस ओर के लक्ष्यवाली राग की क्रिया, वह हठ क्रिया है; वह आत्मा की समाधि नहीं है, वह आकुलत है। आत्मा की सच्ची पहचान करके जो स्वभाव की शान्ति-स्वरूपसमाधि प्रगट करता है, उसके भावनिद्रा तथा भावमरण नष्ट हो जाते हैं; इससे पर से मुझे लाभ होता है–ऐसी मिथ्या मान्यता नष्ट हो जाती है।

इस आत्मा की–'पर से मुझे लाभ होता है, मैं परपदार्थों का कर सकता हूँ'–ऐसी मान्यता होना, उसे भावमरण कहते हैं। श्रीमद् ने 16 वर्ष की आयु में 'अमूल्य तत्त्वविचार' में भावमरण के सम्बन्ध में कहा है कि –

''बहु पुण्य मेरा पुंजथी, शुभ देह मानवनो मल्यो,
तो ये अरे! भवचक्रनो आंटो नहि अेके टल्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टले छे, लेश अे लक्षे लहो,
क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे, कां अहो रांची रहो?''

सोलह वर्ष के बाद का यह काव्य है। बचपन से ही उनका भव के अन्त पर खूब भार है, भव के नाश की अत्यन्त आतुरता है। अनन्तकाल से नहीं समझे हुए आत्मस्वरूप को अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव के प्रयत्न द्वारा समझकर तुरन्त भव का नाश न हो तो पुरुषार्थ और प्रतीति की अपूर्वता ही क्या? अनन्तकाल में जिसकी प्राप्ति होना दुर्लभ है–ऐसे इस मनुष्यभव में आत्मा की पहचान करके आत्मस्वभाव से विरुद्ध–ऐसे भवभ्रमण के मूल का नाश न करे तो मनुष्यभव की कोई गिनती नहीं है। जगत् में कौऐ और कुत्ते जन्म लेकर मर जाते हैं, वैसे ही मनुष्यभव प्राप्त करके भी यदि अज्ञान में जीवन बिताकर मरे तो कुत्ते और मनुष्य के भव में कुछ अन्तर नहीं है। अति पुण्य के योग से अर्थात् पूर्व के किसी दयादि मन्दकषाय के फलरूप दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त हुआ है। इस मनुष्यभव में आत्मा के स्वरूप को समझने की मुख्यता है, इसलिए उसे शुभ देह कहा है। देह को शुभ कहना, वह व्यवहार का कथन है। मानवदेह प्राप्त करके यदि आत्मा देह,

वाणी और रागादि से रहित त्रिकाली आत्मा का स्वरूप पहचानने का प्रयत्न करे, समझे तो देह को शुभपने का उपचार आता है, परन्तु यदि आत्मा की पहचान न करे तो उसे शुभ या व्यवहार नहीं आता, किन्तु कुत्तों आदि की भाँति भावमरण-अज्ञानमरण–बालमरण करके उसे वह भववृद्धि का निमित्त कहलाता है।

ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त हुआ, तथापि, अरे रे! भवभ्रमण का एक चक्कर भी दूर नहीं हुआ! वही के वही चार गति के भ्रमण बने रहे! आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझे बिना परपदार्थ में अपना स्वरूप-अपना सुख मान-मानकर भ्रमण किया! किन्तु हे जगत के जीवों! कुछ विचार तो करो! कि बाह्य सुख प्राप्त करने से अन्तर का सुख दूर होता है। शरीर में, विषयों में सुख है, उनमें से मुझे सुख प्राप्त होगा–ऐसी मान्यता से, पर में ही भटकते रहने से अपने अन्तरंगस्वभाव का सुख-अन्तरंग शान्ति दूर होती है। विषयों में सुख नहीं है, सुख आत्मा का स्वभाव है; उसे बाह्य में ढूँढ़ने से अन्तर का सुख दूर होता है और आकुलता उत्पन्न होती है। 'लेश अे लक्षे लहो!' लेश अर्थात् जरा इसे लक्ष्य में–ख्याल में तो लो! अन्तरंग धैर्यपूर्वक जरा विचार तो करो कि मेरा सुख पर में नहीं हो सकता। पहले जरा तो लक्ष्य करो। पीछे स्थिरता की बात! पहले सत्य को लक्ष्य में तो लो।

शरीर की सोलह वर्ष की आयु में यह बात आयी है। आयु आत्मा को लागू नहीं पड़ती; सभी आत्मा अनादि से प्रवर्तमान होते हुए वर्तमान वर्त रहे हैं। कोई आत्मा वर्तमान समय से आगे बढ़कर भविष्य में नहीं गया है; इसलिए वास्तव में जवान या वृद्ध किसे कहा जाये? समस्त आत्मा अनादिकालीन हैं; कोई छोटा-बड़ा नहीं है। देह की स्थिति को लेकर व्यवहार से कहा जाता है, लेकिन वह यथार्थ नहीं है।

जगत के अनन्त चैतन्य आत्मा और अनन्त जड़ पदार्थ–परमाणु आदि पदार्थ अनादि-अनन्त हैं। त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर भगवान ने उनकी सत्ता-अस्तित्व जैसी देखी है, वैसी उनकी सत्ता-अस्तित्व अपने कारण है; इसलिए किसी की सत्ता किसी पदार्थ पर कार्य नहीं करती। प्रत्येक पदार्थ अपने अस्तित्व से कार्य कर रहा है, तथापि एक पदार्थ के अस्तित्व के कारण-निमित्त के कारण दूसरे पदार्थ की सत्ता-अस्तित्व में लाभ हो–ऐसी मान्यता होने को श्रीमद् ने भावमरण कहा है। वह भावमरण भवचक्र का-परिभ्रमण का कारण है।

श्रीमद् जगत् के जीवों से कहते हैं कि–ऐसे अज्ञान मान्यतारूपी भावमरण के कारण–प्रतिक्षण होनेवाले भयंकर भावमरण के कारण परिभ्रमण होता है, तथापि उसमें क्यों लीन हो रहे हो? क्षण-क्षण भावमरण अर्थात् प्रतिसमय प्रत्येक पर्याय में अज्ञानभाव के कारण आत्मा के

स्वरूप की अप्रतीतिरूप भावमरण-आत्ममरण हो रहा है, उसका अज्ञानियों को भान नहीं है और उसी में रुचिपूर्वक-प्रीतिपूर्वक लीन रहते हैं। ज्ञानी कहते हैं कि अहो जीवो! तुम उसमें क्यों लीन हो रहो हो।

पुद्गल के अन्तिम से अन्तिम पॉइण्ट को–छोटे से छोटे अंश को परमाणु कहते हैं; उस परमाणु जितने क्षेत्र को एक प्रदेश कहते हैं;–ऐसे असंख्य प्रदेशोंवाला जीव है। जीव के स्वद्रव्य का, स्वभाव का तथा उसकी पर्यायों का क्षेत्र अपने असंख्यप्रदेश जितना है। जीव अन्तरंग स्वभाव में से, स्वक्षेत्र में से, अपने अस्तित्व में से सुख का प्रयत्न न करके, स्वसत्ता से बाहर–देह, वाणी तथा पुण्यादि विकारी भावों में से सुख प्राप्त करने जाता है–उससे अन्तर-चैतन्यस्वभाव की जागृति का नाश होता है,–उसे किंचित् तो लक्ष्य में–ख्याल में लो।

आत्मतत्त्व को ढूँढ़ने में अन्तर-दृष्टि कार्य करती है। अन्तर में चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव को पहचाने बिना बाह्य लक्ष्य से दया-दानादि शुभ विकार हो अथवा देह की क्रिया हो–वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; परन्तु त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की दृष्टि के बल से जो आत्मा के परिणाम अर्थात् भाव होते हैं, उन्हें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानरूप आत्मा का कार्य कहा है। इसके अतिरिक्त लक्ष्मी आदि जड़ के संयोग, देहादि जड़ की क्रिया अथवा पुण्य-पाप के विकारी भावों को आत्मा का सच्चा कार्य नहीं कहा है, तथापि उनसे और उनकी वृद्धि से आत्मा का हित मानना, वह भावमरण है और लक्ष्मी तथा अधिकार आदि प्राप्त करने की इच्छावाले भावों से आत्मा का सुख दूर होता है और आकुलता बढ़ती है। उसे जरा तो लक्ष्य में लो।

लक्ष्मी और अधिकार आदि बाह्य पदार्थों में तो सुख नहीं है; परन्तु पुण्यरूपी शुभभाव में भी सुख नहीं है। क्या बाह्य में या विकार में सुख होता है? सुख आत्मा की सत्ता में होता है या पर की सत्ता में? सर्वज्ञदेव-सम्पूर्ण ज्ञानानन्द भगवान हुए–वे आत्मा में से हुए या बाह्य से? परिपूर्ण सुखी और परिपूर्ण ज्ञानी श्री वीतराग अरिहन्तदेव आत्मा की स्वसत्ता में से हुए हैं। बाह्य से–देह से, वाणी से वे सुखी नहीं हुए हैं। इसलिए देहादि बाह्य पदार्थ आत्मा के सुख के लिए साधन नहीं हैं। जो देह को अथवा बाह्य संयोगों को सुख का साधन-कारण मान रहे हैं, वह मान्यता उनका भ्रम है, अज्ञान है, मिथ्या मान्यता है।

और यदि देह साधन हो तो ऐसी देह तो जीव अनन्तबार प्राप्त कर चुका है, ऐसी देह की अनन्तबार राख हो चुकी; लेकिन 'देह मेरी है, वह मुझे धर्म का साधन है'–ऐसी मान्यता होने से भावमरण करते-करते अज्ञानी जीव को अनन्तकाल से परिभ्रमण हो रहा है। एकमात्र आत्मा की यथार्थ प्रतीति किये बिना अज्ञान के कारण अनन्तबार कुत्ते आदि के भव धारण किये। अरे! जैन

के नाम से, जैन का द्रव्यलिंगी साधु होकर भी 'यह शरीरादि की क्रिया मुझे धर्म का साधन है और व्रतादि पुण्य-भाव करते-करते धर्म अर्थात् आत्मा का कल्याण हो जायेगा'—ऐसी अज्ञान मान्यता रखकर जीव ने अनन्तबार मिथ्यामान्यतारूप आत्ममरण अर्थात् भावमरण किये।

इसलिए भगवान सर्वज्ञदेव कहते हैं कि आत्मा के यथार्थ स्वरूप को यथावत् समझे बिना केवल हमारे सम्प्रदाय की पकड़ करे तो वह कहीं भावमरण दूर करने का उपाय नहीं है। परन्तु तू अन्तर, देह से रहित तथा रागादि से रहित, भव से रहित त्रिकाली चैतन्यस्वभाव को समझ! वह समझ भवभ्रमण अथवा भावमरण दूर करने का उपाय है। ऐसे यथार्थ भानपूर्वक आत्मा को देह का छूटना, उसे समाधिमरण अथवा पण्डितमरण कहते हैं। और मैं जाननेवाला-ज्ञातास्वभाव ही हूँ, पर की क्रिया का कर्ता-हर्ता मैं नहीं हूँ, पुण्यादि रागभाव मेरा स्वरूप नहीं है; राग तो आकुलता है; उससे भिन्न अन्तर स्वभाव की शान्ति, चैतन्य में आनन्दरस की धारा उठे, वह मेरा स्वभाव है।—ऐसे भान बिना, 'मैं शरीर का स्वामी हूँ', मैंने शरीर द्वारा इतने कार्य किये, पर का भला कर दिया आदि पर के कर्तृत्व की अज्ञान-मान्यतापूर्वक देह छूटे, वह बालमरण है, अज्ञानमरण है; ज्ञानी उसे समाधिमरण नहीं कहते हैं; फिर चाहे भले ही श्वास बन्द कर गड्ढ़े में पुर जाये, लेकिन वह समाधि नहीं है, उसे आत्मा का अज्ञान होने से प्रतिसमय भावमरण होता ही रहता है।

प्रभु आत्मा! बहुश्रुत होकर स्वभाव के भान बिना तूने बहुत बालमरण किये हैं। चैतन्यस्वभाव के भानपूर्वक देह छूटने को भगवान समाधिमरण कहते हैं, भान बिना देह छूटे उसको समाधिमरण-पण्डितमरण-भगवान नहीं कहते; वह तो बालमरण है। उसके फल में जीव कौआ, कुत्ता आदि चारों गतियों में परिभ्रमण करता है।

आधि, व्याधि, उपाधि और समाधि का स्वरूप

आधि, व्याधि और उपाधि रहित, वह समाधि है। आत्मा शान्ति और आनन्द स्वभाव है, उसकी वर्तमान दशा में पर के लक्ष्य से दया, दान आदि शुभभाव और हिंसा-झूठ आदि अशुभभाव के विकल्प—उत्थान होते हैं, वह आधि है। रोग अर्थात् शरीर में बुखार रहना, फोड़ा-फुन्सी आदि को व्याधि कहते हैं। रोग-निरोग लोगों की कल्पना है; वास्तव में तो शरीर के परमाणुओं की उस काल वैसी दशा होने योग्य होती है, इससे वह उष्णता अथवा सड़नेरूप परिणमित होता है। लोग अपनी कल्पनानुसार-शरीर ठण्डा ही, अवयव बराबर काम कर रहे हों, पुष्टता हो, उसे निरोगता मानते हैं; जब उनकी कल्पना से अन्य प्रकार शरीर परिणमन हो, तब उसे वे रोग कहते हैं। वास्तव में रोगी-निरोगी ऐसे नाम नहीं लिखे हैं। रोग सम्बन्धी जीव की आकुलता, दुःख को व्याधि कहते हैं; और स्त्री, पुत्र, धन, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा आदि बाह्य संयोगों के प्रति जीव की ममता को उपाधि कहते हैं।

इस प्रकार आधि, व्याधि और उपाधिरूप जीव के विकारीभाव हैं। वे अज्ञान, राग-द्वेष और आकुलतावाले हैं। उन तीन भावों से रहित, मैं चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा, शान्तस्वरूप, आनन्द का पिण्ड हूँ। समस्त बाह्य पदार्थ तथा रागादि विकारी भाव मेरा स्वरूप नहीं है;–ऐसी आत्मा की यथार्थ प्रतीति करके–'मैं आत्मा ज्ञान और निराकुल सुखस्वभाव ही हूँ'–ऐसा राग से-विकल्प से भिन्न अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, वह प्रथम सम्यग्दर्शनरूप समाधि है। यही धर्म की इकाई है;–ऐसे आत्मा के भान और अनुभव सहित देह छूटे, उसे वीतराग सर्वज्ञदेव समाधिमरण कहते हैं। भगवान ने पण्डितमरण का ऐसा स्वरूप बतलाया है।

जीव को मन के सम्बन्ध से पुण्य-पाप के भाव हों, वे आधि है। वास्तव में पुण्य-पाप के भाव, आत्मा का स्वरूप नहीं हैं, परन्तु आत्मा के स्वभाव का घात करनेवाले हैं। जगत में जिसप्रकार पवन का तूफान आने पर आँधी चढ़ती है; उसी प्रकार यह पुण्य, दया, दान, हिंसादि के भाव राग अर्थात् आकुलत का तूफान होने से आँधी की तरह हैं; उनसे भिन्न अपने त्रिकाली स्वभाव को पहचानकर उन रागादि से पार होना, वह आधि से छूटने का उपाय है; आधि से विरुद्ध समाधि है।

सच्ची समझ होने से अल्पकाल में परमात्मपद प्राप्त करने का विश्वास

जीवन में धर्म करता हूँ–ऐसा जीव माने, परन्तु अन्तरात्मा से उसे विश्वास न हो कि मुझे अब भव-बन्धन से मुक्त होना है, तो उसका जीवन और उसका किया हुआ धर्म क्या? लोक में भी किसी पुरुष के हाथ रस्सी से बाँधे हों, उसके हाथों को कसने में १५ आंटे लगायें हों; परन्तु उस पुरुष ने प्रयत्न द्वारा रस्सी को ढ़ीला करके पाँच आंटे निकाल दिये; पाँच आंटे निकले वहाँ दूसरे पाँच आंटे निकले वहाँ दूसरे पाँच आंटे भी ढ़ीले पड़ गये और अन्तिम पाँच आंटे अभी सहज कसे हुए हैं; लेकिन उसे अन्तरविश्वास हो गया है कि अभी हाल इन दूसरे पाँच आंटों को उकेलकर अन्तिम पाँच आंटों को ढ़ीला करके सारा बन्धन दूर कर दूँगा;–ऐसा विश्वास उसे पहले से ही आ जाता है। उसी प्रकार आत्मस्वभाव की अन्तःरुचि द्वारा जीव ने सच्ची पहचान की, वहाँ देहादि तथा पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं–ऐसी अज्ञान मान्यतारूप बन्धन पहले ही तड़ाक्–से टूट गया है। वह सच्ची मान्यता होते ही–बन्ध का एक भाग छूटते ही राग-द्वेषादि ढ़ीले हो गये। अभी अस्थिरता है, राग है, साक्षात् श्रेणी और केवलज्ञान का पुरुषार्थ नहीं चलता,–इतना अन्तिम भाग अभी कसा हुआ है, परन्तु स्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा अल्पकाल में आत्मस्वरूप में स्थिर होकर राग-द्वेष को दूर करके केवलज्ञान प्रगट करूँगा। अस्थिरतारूप बन्धन को तोड़कर मैं अल्पकाल में पूर्ण परमात्मपद को प्राप्त करूँगा–ऐसा विश्वास अन्तर से अपने आत्मा की साक्षी से, ज्ञानी को

हुए बिना नहीं रहता। इसलिए आत्मा धर्म करे और अन्तर से भव से छुटकारा होने की ध्वनि न आये–ऐसा होता ही नहीं। परन्तु वह धर्म कैसा? लोगों ने मान लिया है–ऐसा धर्म का स्वरूप नहीं है। धर्म तो अन्तरात्मा की प्रगट होनेवाली निर्मल पर्याय है; आत्मा की निर्विकारी शुद्धदशा है। सिद्ध भगवान जैसा परमानन्द का अंश है। लोग बाह्य जड़ की क्रिया में या पुण्य में धर्म मानते हैं, वह अज्ञान है, भ्रम है। उससे जीव का परिभ्रमण दूर नहीं होता।

श्रीमद् की भव-अन्त के लिए पुकार

श्रीमद् को बचपन से ही अन्तर से पुकार उठती थी कि–मुझे भव नहीं चाहिए। उन्होंने अनेक स्थानों पर भव अन्त के सम्बन्ध में लिखा है :–

"कायानी विसारी माया, स्वरूपे शमाया अेवा,
निर्ग्रन्थ नो पंथ, भव अंतनो उपाय छे।"

ज्ञाता-दृष्टा चैतन्य में भव अर्थात् अज्ञान, राग-द्वेष और उसके कारण से परिभ्रमण है, वह कलंक है; इसलिए मुझे भव की आवश्यकता ही नहीं है। भव अर्थात् विकारी भाव; पुण्य-पाप के विकार से रहित मैं केवल ज्ञाता-दृष्टा आनन्दस्वरूप हूँ। मेरे त्रिकाली स्वरूप में भव नहीं है। मात्र वर्तमान अवस्था में विकार है, वह मेरा यथार्थ स्वरूप नहीं है; इससे विकार और उसके फल-भव की मुझे आवश्यक्ता नहीं है।

प्रश्न :– भव हो तो दूसरे जीवों का भला किया जा सके न? यदि भव हो तो शरीर हो, और शरीर हो तो दूसरों की सेवादि कर सकते हैं; इसलिए भव क्या बुरा है।

उत्तर :– अरे भाई! एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ भला-बुरा कर सकता है–यह बात ही बिल्कुल मिथ्या है। सामनेवाले जीव का भला-बुरा होना, सुखी-दुःखी होना उसके परिणामों के आधाार से है। उसे कोई दूसरा जीव सुखी-दुःखी नहीं कर सकता। और सामनेवाले जीव को सुख या दुःख बाह्य संयोगों के कारण नहीं हैं। परपदार्थ से मुझे सुख-दुःख होता है–ऐसी अज्ञान मान्यता से, पर में सुख-दुःख की कल्पना करता है। वास्तव में वह कल्पना उसे कल्पित सुख (जो वास्तव में दुःख ही है) और दुःख का कारण है। सामनेवाला जीव यदि उसकी कल्पना छोड़ दे तो सच्चा सुख प्राप्त करे। इसलिए कोई जीव किसी जीव को सुख करता है–ऐसी मान्यता बिल्कुल भ्रम है; और उसके लिए जो भव की कामना करे वह भी, बिल्कुल मूढ़ है। सभी जीव सच्चा समझनेरूप पुरुषार्थ नहीं करते–कोई-कोई अल्प जीव सत्य समझने का पुरुषार्थ करते हैं और उनका भव अन्त होता है। इसलिए जीव को अपना कल्याण करने के लिए अपना स्वरूप समझकर परिभ्रमण का अन्त करना चाहिए। मुझे भव ही नहीं चाहिए, भव अन्त का यह समय आया है। सच्चा

समझने का समय आया है, वहाँ यदि अन्तर समझने का पुरुषार्थ करे तो शीघ्र ही भव का अन्त हो जाये। लोग मानते हैं कि पर का कुछ भला करना चाहिए; लेकिन भाई ! पर का भला कौन कर सकता है? सबसे निकटस्थ इस शरीर में यदि कोढ़ के धब्बे हो गये हों तो उन्हें भी नहीं बदल सकता; तब फिर दूरस्थ परपदार्थों में वह क्या करेगा? क्या उसे कोढ़ के धब्बे रखने का भाव है? धब्बे शरीर की अवस्था है। शरीर को–उन परमाणुओं को–जिस समय जिसरूप परिणमित होना हो, वैसे ही परिणमित होते हैं। अचेतन जड़ शरीर अपनी अवस्था बदलने में स्वतन्त्र है; उसमें किसी दूसरे का हाथ काम नहीं कर सकता अर्थात् उसे दूसरा कोई पदार्थ पलटा नहीं सकता; इसलिए हे जीव! पर के कर्तृत्व की मान्यता को तू छोड़ देना और राग-द्वेष को छोड़ना–वह निर्ग्रन्थ का पंथ भव के नाश का उपाय है।

सम्यग्ज्ञानी साधक जीव को पुरुषार्थ की कचास के कारण राग, विकल्प रह गया, उसके करण एकाध भव होता अवश्य है, परन्तु निर्ग्रन्थ का मार्ग, भव बतलाने का नहीं है; वे तो भव से रहित केवल स्वभाव ही बतलाते हैं।

ईश्वर वीतराग है, साक्षी है, वह भव नहीं देता

अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि ईश्वर भव–स्वर्ग-नरकादि देता है–वह बात सत्य नहीं है। भगवान तो सर्व के ज्ञाता, वीतराग निर्दोष हैं; उनके किसी को भव–स्वर्ग-नरकादि देने की इच्छा नहीं होती। यदि उनके इच्छा मानी जाये तो, भगवान सब के साक्षी-ज्ञाता और निर्दोष-राग, विकार रहित नहीं रहते; भगवान दोषी हो जायेंगे, परन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिए भगवान सर्वज्ञ इच्छा रहित वीतराग हैं; वे किसी को स्वर्गादि नहीं देते। स्वर्गादि गतियाँ जीव अपने शुभादि परिणामों से प्राप्त करना है।

परिभ्रमण के नाशकी अन्तर्लगन

भाई ! तुझे भवभ्रमण के त्रास हुआ है? 'मुझे अब भव नहीं चाहिए, आत्मा की यथार्थ पहचान करके उसका अन्त लाना है'–ऐसी अन्तर से लगन हुई है? श्रीमद् राजचन्द्रजी को छोटी आयु से ही अन्तर में से ध्वनि उठती थी कि–'मुझे यह भव-यह परिभ्रमण नहीं चाहिए!' आत्मा, परपदार्थ के आश्रय से रहित स्वतन्त्र पदार्थ है; उसे परपदार्थ का आश्रय मानना, वह भयंकर भावमरण है। ज्ञानी पुरुष, जगत् के जीवों को सम्बोधन कर कहते हैं कि–'अरे जीवो! प्रतिक्षण होनेवाले भावमरणों में तुम कहाँ लीन हो रहे हो।'

भव का नाश करने की वह भावना अथवा समाधि की भावना श्रीमद् को यहीं राजकोट में आज (वैशाख वदी पंचमी के दिन) पूरी हुई थी अर्थात् उनका समाधिमरण राजकोट में आज के

दिन हुआ था। भव के अन्त का एकमात्र उपाय आत्मा की यथार्थ पहचान करना है। यही आत्मा के तरने का उपाय है। इसी पंथ से अनन्त आत्मा भूतकाल में तरे हैं और भविष्यकाल में भी तरेंगे।

श्रीमद् अन्तर से बहुत उदासीन थे। बम्बई जैसे प्रवृत्तिवाले शहर में रहने पर भी, बम्बई को 'मोहमयी नगरी' उपमा देकर, उसे उपाधिमय कहकर, व्यापारादि की उपाधि में युक्त होने से इन्कार करते थे; अर्थात् उपाधिमय भाव से निवृत्ति की भावना भाते थे।

आधि, व्याधि और उपाधिरहित आत्मा की समाधि की बात सभी जीव समझ सकते हैं। आठ वर्ष के बालक भी आत्मा की सच्ची पहचान और समाधि प्रगट कर सकते हैं।

श्रीमद् ने २९वें वर्ष में आत्मसिद्धि शास्त्र बनाया है। उसके प्रथम पद में कहा है कि :–

'जे स्वरूप समज्या बिना, पाम्यो दुःख अनन्तः;
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवन्त'

आत्मसिद्धि में प्रथम ही कहा है कि–जीव ने अपना सच्चा स्वरूप समझे बिना अनन्त दुःख पाया है; लेकिन वहाँ ऐसा नहीं कहा है कि–जीव ने परोपकार नहीं किया, कुटुम्ब का भला नहीं किया, पर जीवों की दया नहीं पाली, यात्रा, पूजादि नहीं किए, इसलिए उसने अनन्त दुःख पाये। क्योंकि जीव ने वह सब तो अनन्त बार किया है; मात्र एक अपना सच्चा स्वरूप ही नहीं समझा, और उससे अनन्तकाल से अज्ञान के कारण अनन्त दुःख पाये हैं। इसलिए जो जीव, शरीर और रागादि विकारीभावों से रहित अपने शुद्धस्वरूप को समझे, उसके दुःख दूर होने का यह उपाय कहलाता है। जिन्हें समझने की रुचि नहीं है, वे तो संसार में ऐसे के ऐसे रहनेवाले हैं।

जीव ने अपने स्वरूप की सच्ची समझ के बिना अनन्त दुःख पाये। वहाँ, अनन्त का अर्थ–कालक्रम से अनन्त दुःख पाये–ऐसा नहीं; परन्तु अनन्त परपदार्थों से भिन्न अनन्त ज्ञानदर्शनरूप, अनन्त निराकुल आनन्द स्वभावरूप सुखस्वभाव का, अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण वर्तमान अवस्था में अस्वीकार करके अनन्त-अनाकुल स्वभाव से विपरीत दशा उत्पन्न की–यही वर्तमान एक समय की पर्याय में अनन्त दुःख है। इस प्रकार समय-समय करके अनन्तकाल से जीव दुःखदशा भोग रहा है; परन्तु आत्मा की सच्ची समझ से उस दुःख का नाश हो जाता है। इससे कहा है कि –

'समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवन्त।'

जिनके पास से स्वरूप की यथार्थ समझ प्राप्त हुई–ऐसे गुरु की यहाँ विनय की है। इस भव में श्रीमद् को–अपने को गुरु नहीं मिले थे, परन्तु पूर्व के स्मरण में जो गुरु थे, उनकी बहुमान पूर्वक विनय करके यह प्रथम श्लोक किया है। आत्मसिद्धि पूर्ण करते हुए अन्त में लिखा है कि –

'देह छतां जेनी दशावर्ते देहातीत,
ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वंदन अगणित'

लोग तत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझते नहीं है और ऊपर से ज्ञानी जैसी भाषा करते हैं– इसमें सत्य नहीं है। तालाब में बीच की और किनारे की सपाटी बाहर से तो समान मालूम होती है, परन्तु बाँस द्वारा उसकी गहरायी का माप लिया जाये तो किनारे पर पानी चार अंगुल होता है और बीच में दस-बीस हाथ गहरा होता है। इसी प्रकार जिसे तत्त्व का वास्तविक ख्याल नहीं है, उसे ऊपर से तो ऐसा ही लगता है कि सभी उपदेशक आत्मा की ही बात करते हैं; किन्तु यदि तत्त्व के मूल में जाकर गहराई से–गम्भीरतापूर्वक उसका वास्तविक अभ्यास करे तो उसे वीतरागमार्ग और दूसरे (धर्म के नाम के) उपदेशकों के बीच पूर्व-पश्चिम जितना महान अन्तर मालूम होगा। जीवन का सच्चा स्वरूप क्या है? विकार का स्वरूप क्या है? विकार का कारण क्या है?–कर्म, पर पदार्थ या आत्मा की भूल? उसे दूर करने का क्या उपाय है? आदि तत्त्व का यथार्थ स्वरूप अत्यन्त गहन है। उसे बराबर समझना चाहिए।

वास्तव में देहातीत का क्या स्वरूप है? देहातीत किसे कहना चाहिए? कोई मार डाले, शरीर को काट डाले और मुँह से आह तक न करे तो वह कहीं देहातीत नहीं है, क्योंकि आत्मा के भानरहित जीव भी युद्ध के प्रसंग पर मान के लक्ष्य से, शरीर कट जाने पर भी मुँह से आह नहीं निकालते और स्त्रियाँ भी घासलेट छिड़क कर जल मरती हैं, तो भी मुँह से आह तक नहीं निकालतीं; तो क्या वह देहातीत है? नहीं; जिसे शरीर, वाणी आदि परपदार्थों से भिन्न–ऐसे अपने आत्मा का यथार्थ भान है, देह पर मेरा अधिकार नहीं है; देह, ज्ञानावरणीयादि कर्मों के समूहरूप बना हुआ कार्मणशरीर और राग-द्वेष, दया-दान के शुभ-परिणाम और अशुभ-परिणाम–इन सब के पार आत्मा हैं; आत्मा में यह सब नहीं है। पर तथा शुभाशुभ विकार से भिन्न ऐसे अपने स्वरूप को समझ लिया–वही आत्मा देहातीत हुआ है। स्वरूप की सच्ची समझ होने से वह ऐसा जानता है कि–'यह जो शुभाशुभ विकार है, वह मैं नहीं हूँ; यह शरीर, वाणी आदि मैं नहीं हूँ, मैं ज्ञाता हूँ और वह मेरे ज्ञेय हैं।'

'मैं कर्ता हूँ और शरीरादि की कोई क्रिया मेरा कार्य है, मैं भोक्ता हूँ और वे मेरे योग्य हैं– ऐसा नहीं है। वास्तव में तो शुभाशुभ विकार, दयादि की वृत्तियाँ मेरा कार्य और भोग्य नहीं हैं; परन्तु शुद्ध ज्ञान स्वभाव प्रगट करके उसका अनुभव करना ही मेरा कार्य और भोग्य है।' ऐसा भान होने पर भी अवस्था में निर्बलता के कारण वृत्ति उठे तो उसकी उन्मुखता सर्वज्ञ भगवान तथा ज्ञानियों की ओर रहे, परन्तु विषय-कषायादि अशुभभाव में न रहे। ऐसा 'समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु

भगवन्त।'–इस कथन का रहस्य है। श्रीमद् के कथन का रहस्य न समझकर, रागी-पक्षवाले उनके शब्दों को खींचते हैं। (–आग्रह से, लिखे अनुसार शब्दार्थ करते हैं, परन्तु उनका हेतु नहीं समझते।) और द्वेषी उनकी निन्दा करते हैं। दो में से कोई भी श्रीमद् के आशय को नहीं जान सकते।

श्रीमद् राजचन्द्र ने ऐसा क्या किया है कि उनके समाधिमरण की प्रशंसा की जाती है? श्रीमद् ने अपनी एक कविता में लिखाा है :–

अवश्य कर्म नो भोग जे, भोगववा, अवशेष रे;
तेथी देह अेक ज धारिने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे।

और उसी में पहले पद में कहते हैं :–

धन्य रे दिवस आ अहो, जागी रे शान्ति अपूर्व रे;
दश वर्षे रे धारा उलसी, मटयो उदय कर्मनो गर्व रे।

श्रीमद् को अन्तर में आत्मा का भान था। उनके चैतन्य-जागृत सत्ता की पहचान हुई है, तथापि अस्थिरता है, उतना राग है। इतनी कचास के कारण देह छूटने से इसी भव में मुक्ति नहीं होती; परन्तु अन्तर में उन्हें विश्वास है कि इस अस्थिरता को–कचास को–शुभाशुभरूप बाह्य उत्थान को दूर करके पूर्ण वीतराग हो जाऊँगा; स्वदेश जाऊँगा। अपने आत्मा में पूर्ण होना, स्वरूप में पूर्ण समा जाना–वह स्वदेश में जाना है; आत्मा के अतिरिक्त कोई बाह्यक्षेत्र स्वदेश नहीं है। अब एक देह धारण करके, अन्तर में स्थिर होकर स्वदेश जाऊँगा। ऐसे आत्मभानपूर्वक और आत्मशान्ति सहित उनका मरण / देह का वियोग होने से उसकी प्रशंसा की जाती है।

'अपूर्व अवसर' में भी स्वकाल की अर्थात् स्वपर्याय की शुद्धता की भावना है। अपूर्व अवसर में पहले पद में भावना भाते हैं कि :–

अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे?
क्यारे थइशुं बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो?
सर्व सम्बन्धनुं बन्धन तीक्ष्ण छेदी ने
विचरशुं कब महत्पुरुष ने पंथ जो?

अपूर्व० ॥ १ ॥

अन्तरात्मा का भान हुआ है, परन्तु स्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा अन्तर अस्थिरता के रागादि को तोड़कर स्वरूप में विशेष स्थिर होकर आभ्यन्तर और बाह्य निर्ग्रन्थ कब होऊँगा? बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थ स्वकाल कब प्रगट करूँगा? ऐसा अपूर्व अवसर–अपूर्व निर्मल शुद्धदशा हमें कब प्रगट होगी? ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा? कब निर्ग्रन्थ होऊँगा? इस प्रकार श्रीमद् ने निर्ग्रन्थ होने

की भावना भायी है। अन्तर स्वभाव में लीनता करके, अन्तर में स्थिर होकर अपूर्व स्वभावदशा-स्वकाल-अपूर्व स्व–रमणता कब प्रगट करूँगा? ऐसी अन्तर की भावना भायी है।

३३ वर्ष की देहस्थिति में उन्होंने ऐसी भावना भायी है। ३३ वर्ष की छोटी आयु में उनका देह-त्याग हुआ था। कोई ऐसा कहता था कि उन्होंने व्यापारादि में व्यवसाय-उपाधि बहुत की, इसलिए छोटी आयु में उनका शरीर इतना क्षीण हो गया और छूट गया। परन्तु कहनेवाले की यह बात मिथ्या है। भाई! जिस समय देह छूटना हो, परमाणुओं की जिस समय जो अवस्था होना हो, वह उसी समय उसी प्रकार होती है; उसमें कोई कुछ आगे-पीछे नहीं कर सकता। बहुत चिन्ता करे, इसलिए देह जल्दी छूट जाती है–यह बात सत्य नहीं है। बहुत उपाधि करे तो देह क्षीण होती है और कम उपाधि करे तो देह हृष्ट-पुष्ट रहती है–यह बात बिल्कुल मिथ्या है। जीव चिन्ता करे तो उसकी शान्ति कम होती है, और आकुलता बढ़ती है–यह बात सच है, परन्तु चिन्ता-अचिन्ता से शरीर में रोग-निरोगता हो–ऐसा नहीं होता। श्रीमद् के शरीर में जब संग्रहणी-शरीर के परमाणुओं की वैसी अवस्था–होना थी तब हुई।

और वे अपूर्व अवसर में शत्रु-मित्र के प्रति द्वेष और राग की वृत्ति रहित समदर्शी स्वभाव तथा भव का नाश करना और मोक्ष प्रगट करना–ऐसे दोनों विकल्पों से रहित केवल शुद्ध स्वभाव की–केवल साक्षी स्वभाव की भावना भाते हैं।

शत्रु-मित्र प्रत्येक वर्ते समदर्शीता,
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो;
जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता,
भव मोक्षे पण वर्ते शुद्ध समभाव जो

अपूर्व० ॥१॥

इस आत्मा को बाह्य में कोई शत्रु-मित्र है ही नहीं। आत्मा का शत्रु अज्ञान और राग-द्वेष विकारी परिणाम हैं और मित्र, चैतन्य आनन्दकन्द त्रिकाली स्वभाव है। कहा है कि –

पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं, कि बहिया मितमिच्छसि

हे जीव! तू ही अपना भिन्न है, तू बाह्य मित्र की इच्छा क्यों करता है? वास्तव में कोई तेरा मित्र नहीं है। और मान-अपमान किसके? सामनेवाले जीव को जो ठीक लगे–जो उसे अनुकूल हो, वैसे अपने भाव करता है। उसे न रुचे तो उसका (अपना) अनादर करता है, और रुचे तो अपनी रुचि का आदर करता है। पर का आदर-अनादर कोई नहीं करता।

पुनःश्च, 'जीवन के मरणे नहीं न्यूनाधिकता'–मरण हो तो ठीक नहीं है, और जीवन हो तो

ठीक है; अथवा ऐसा क्यों? ऐसी न्यूनाधिकता जिमसें नहीं है–ऐसे मुनिपद की वे भावना भाते हैं। शरीर के संयोग-वियोग की जिस काल में जो दशा होना हो, वैसी होती है। जीवन के समय जीता है अर्थात् शरीर, जीव के साथ एक क्षेत्र में रहता है, और मरण समय शरीर छूटता है; अपने-अपने समय सब अपना-अपना कार्य करते हैं; उसमें ऐसा हो तो अच्छा,–ऐसा न्यूनाधिक अर्थात् ठीकाठीक का भाव जिसमें नहीं है–ऐसे स्वभाव पद की यह भावना है।

'भव मोक्षे पण वर्ते शुद्ध समभाव जो'–मैं ज्ञान-दर्शन स्वभाव में रहनेवाला हूँ, भव और मोक्ष–ऐसे दो भेदों का–दो विकल्पों का आश्रय करनेवाला मैं नहीं हूँ। कोई कहे कि तेरी इसी भव में मुक्ति है, तो भी क्या? मुझमें वास्तव में भव कहाँ है? और मोक्ष पर्याय जितना ही मैं कहाँ हूँ? मैं तो त्रैकालिक ज्ञान-दर्शन स्वभाव हूँ, भव-मोक्ष की पर्यायों जितना अथवा उन दोनों के विकल्प जितना मैं नहीं हूँ, उन दोनों पर्यायों में मुझे समभाव है, अर्थात् उन दोनों के विकल्पों की ओर मेरी उन्मुखता नहीं है, मैं उनका ज्ञाता हूँ, ज्ञाता-दृष्टा-साक्षीमात्र हूँ।

आत्मस्वभाव की महिमा करते हुए, वह स्वभावपद वाणी से अगोचर है, पूर्णतया–सन्तोष हो ऐसे सर्व प्रकार से–वाणी में उसका कथन नहीं आ सकता–ऐसा कहते हैं :–

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहि पण ते श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।

अपूर्व० ॥१॥

भगवान सर्वज्ञदेव ने अपनी निर्मलदशा में–केवलज्ञान में आत्मा को जैसा पूर्ण देखा है, वैसा ही उसे वाणी द्वारा वे भी पूर्णरूप से नहीं कह सके। अल्पज्ञ को तो अल्पज्ञान होने से उसे वाणी में निमित्तता अल्प है, परन्तु सर्वज्ञ भगवान–कि जिनको परिपूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ है; मोह-राग-द्वेषादि दोषों का सर्वथा नाश हुआ है, एक समय में तीनकाल-तीनलोक के पदार्थों को एकसाथ पूर्ण जानते हैं–उनकी दिव्यध्वनि भी उस आत्मस्वभाव का पूरा वर्णन नहीं कर सकती; तो फिर अल्पज्ञ की तो बात ही क्या? आत्मस्वभाव मात्र स्वानुभवगोचर है। स्वयं उसकी पहचान करके–अनुभव करके उसका पार प्राप्त किया जाता है।

अन्तिम पद में कहते हैं :–

अेह परमपद प्राप्तिनुं कर्यु ध्यान में,
गजा वगर ने हाल मनोरथरूप जो;

तोपण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो;
प्रभुआज्ञाअे थाशुं तेज स्वरूप जो।

अपूर्व० ॥१॥

पुण्य-पाप के विकार से रहित आत्मा के पूर्णपद की प्राप्ति के लिए मैंने ध्यान किया है। मेरा ध्येय अर्थात् लक्ष्य एक आत्मा का पूर्ण शुद्धपद ही है। दूसरा कोई मेरा ध्येय नहीं है; शुभ विकार या उसके फलरूप देवादि के संयोग मेरे लक्ष्य नहीं हैं। मेरा ध्यान तो पूर्ण शुद्धात्मपद की प्राप्ति में है; तथापि इसी भव में वह पूर्णपद प्राप्त कर सकूँ–ऐसा मेरा पुरुषार्थ नहीं है; इससे–'गजा वगर ने हाल मनोरथरूप जो।'

वर्तमान पूर्ण पुरुषार्थ न होने से सामर्थ्य (शक्ति) हीन हूँ, तथापि वर्तमान में मनोरथ-मनरूपी रथ के पहिये–पूर्णानन्द स्वभाव की ओर ही दौड़ रहे हैं,–पुण्य-पाप की ओर नहीं दौड़ते। 'तोपण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो।' और मेरा मनोरथ पूर्णस्वभाव की ओर दौड़ता होने से, श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि–मेरे आत्मा को विश्वास है कि–'प्रभु आज्ञाअे थाशुं तेज स्वरूप जो।' सर्वज्ञ भगवान ने स्वयं वह परमपद प्रगट करके उसका जो पंथ कहा है, उन्होंने जो आज्ञा की है, वह मेरे ध्यान में है। जिस प्रकार उन्होंने परमपद का पंथ कहा है, उस प्रकार स्थिर होने से 'थाशुं तेज स्वरूप जो।' अर्थात् मैं स्वयं परमपदरूप हो जाऊँगा।

त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर भगवान ने आत्मा का जैसा स्वभाव कहा है, वैसा समझना वह उनकी आज्ञा है। 'आ'= मर्यादा, 'ज्ञा'= अन्तरज्ञान करना। आत्मादि पदार्थों का जैसा स्वरूप है, वैसा उनकी स्वरूप-मर्यादानुसार समझना, वह भगवान की आज्ञा है। इस प्रकार शरीरादि पर से तथा रागादि विकार से रहित आत्मा की पहचान हुई है; और जो कुछ अपूर्णता रह गई है, उसका नाश करके पूर्ण होऊँगा। ऐसी भावनापूर्वक आज के दिन श्रीमद् ने राजकोट में समाधिमरण किया था।

कोई कहते हैं कि श्रीमद् ने यहाँ से मरकर सीधा मनुष्यभव धारण किया है; वे महाविदेह-क्षेत्र में इस समय मनुष्यरूप से हैं और उन्हें केवलज्ञान हुआ है,–यह बात बिल्कुल मिथ्या है। श्रीमद् ने महाविदेह में मनुष्यरूप से जन्म नहीं लिया है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर (कर्मभूमि में) मनुष्य होता ही नहीं। यदि मनुष्य मरकर मनुष्य हो तो वह तो मूढ़–मिथ्यादृष्टि होता है। श्रीमद् मरकर मनुष्य हुए हैं–ऐसा कहनेवाले स्वयं श्रीमद् को मूढ़-मिथ्यादृष्टि सिद्ध करते हैं–उसका उन्हें भान नहीं है। ज्ञानी मनुष्य मरकर देव में ही जाता है–ऐसा नियम है।

अन्तरस्वभाव की भावना भाते हुए देह छूटे, आत्मा की शान्तिपूर्वक देहवियोग हो, उसे

समाधि कहते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा जो कुछ करे, वह समाधि नहीं है।

श्रीमद् मोक्षमाला में 'अमूल्य तत्त्वविचार' के पाठ में कहते हैं कि :–

"हुं कोण छुं क्यांथी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरूँ?
कोना संबंधे वलगणा छे? राखुं के अे परहरुं?
अेना विचार विवेकपूर्वक, शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञानना, सिद्धान्त तत्त्वो अनुभव्यां।
ते प्राप्त करवा वचन कोनुं, सत्य केवल मानवुं?
निर्दोष नरनुं कथन मानो, 'तेह' जेणे अनुभव्युं;
रे! आत्म तारो! आत्म तारो! शीघ्र अेने ओलखो!
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो, आ वचनने हृदये लखो!"

हे जीव! तू अपने आत्मा को पहचानकर सर्वात्म में समदृष्टि कर! किसी के प्रति विषमभाव रखन से तुझे क्या प्रयोजन है? सामनेवाला जीव उसके अपने भावों से तरता है और अपने ही द्वारा डूबता है। तू अपने में समभाव रख! ठीक-अठीक भाव रहित सर्व को देख और जान! ऐसी भावना रखते हुए देह छूटे, उसे समाधिमरण कहते हैं। अनन्त जीवों को पूर्व में ऐसा समाधिमरण हो गया है और वर्तमान में जिन्हें आत्मज्ञान है तथा भविष्य में जिन्हें होगा, उनको देह समाधिमरणपूर्वक छूटेगी; इसलिए यह समाधिमरण अनुमोदन करने योग्य है।

राग-द्वेष रहित आत्मा का ज्ञान-स्वभाव

[पद्मनन्दि एकत्व अधिकार, गाथा २६ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन से]

यह आत्मा अनादि से है। अनादि से आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। आत्मा का आदि नहीं है, उसी प्रकार उसकी भूल का भी आदि नहीं है। पहले अवस्था से भी आत्मा बिल्कुल शुद्ध था और फिर भूल हुई—ऐसा नहीं है। आत्मा अनादि है और उसकी अवस्था में भूल भी अनादि से है। जिस प्रकार गन्ने में रस और कूचा मूल से ही मिले हुए हैं, लेकिन दोनों का स्वभाव एक नहीं है; रस पेट में जाता है और कूचा बाहर निकल जाता है; उसी प्रकार आत्मा में भूल अनादि से है, परन्तु वह उसका स्वभाव नहीं है, इससे आत्मस्वभाव की पहचान द्वारा उस भूल को दूर करके भूलरहित आत्मा निर्मलरूप से रह सकता है। जिस प्रकार अफीम का स्वभाव कड़वा है, गुड़ का स्वभाव मीठा है; उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान स्वभाव है। दया अथवा हिंसा के जो परिणाम हों, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। ज्ञानस्वभावी आत्मा के भान से प्रथम अनादि की भूल (मिथ्यात्व) दूर होती है और फिर स्वरूप में एकाग्र होने से क्रमशः राग-द्वेष का अभाव होकर पूर्णज्ञान रह जाता है। वहाँ राग-द्वेष का अभाव होने से चैतन्य का अभाव नहीं हो जाता; क्योंकि राग-द्वेष, चैतन्य के स्वभाव की वस्तु नहीं परन्तु कृत्रिम उपाधि है। जो वस्तु का स्वभाव हो, उसका कभी नाश नहीं होता। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, इसलिए उसका कभी नाश नहीं होता।

आत्मा की अवस्था में किसी समय दया, दान, पूजा, भक्ति आदि शुभ वृत्तियाँ होती हैं और कभी हिंसा चोरी आदि अशुभ वृत्तियाँ होती हैं। वे शुभ और अशुभ वृत्तियाँ आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं, परन्तु नवीन उत्पन्न होती हैं। आत्मा कहीं नवीन उत्पन्न नहीं होता। पहले क्रोध की वृत्ति न हो और फिर उठे, वहाँ ऐसा कहते हैं कि—'मुझे यह क्रोध की वृत्ति उठी है,' लेकिन ऐसा नहीं कहते हैं कि 'मेरा आत्मा उठा है।'—इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा तो नित्य है और उसकी अवस्था में क्रोधादि भाव नवीन उत्पन्न होते हैं। वे क्रोधादि भाव, आत्मा के स्थायी स्वभाव में नहीं हैं। क्रोधादि विकार रहित आत्मा का नित्यस्थायी स्वभाव क्या है? वह जीव ने अनादि से नहीं जाना है।

आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञानमूर्ति है। यह शरीर दिखायी देता है, वह तो जड़ रजकणों का पुतला है। उस जड़ की दशाएँ जड़ के स्वभाव से परिवर्तित होती हैं; आत्मा उनका कर्ता नहीं है। देहादि जड़ पदार्थों से आत्मा त्रिकाल भिन्न है; अपनी क्षणिक अवस्था में आत्मा यदि शुभाशुभ

भाव करे तो नवीन-नवीन होते हैं, और यदि न करे तो नहीं होते। इससे वे शुभाशुभभाव, आत्मा का स्वभाव नहीं हैं।

राग-द्वेषरहित ज्ञानस्वभावी आत्मा का भान करके, यदि राग-द्वेष न करे तो अकेला ज्ञानस्वभाव रह जाता है। राग-द्वेष के समय ज्ञान रुकता था, इससे वह पूरा नहीं जान सकता था; अब स्वभाव के आश्रय से राग-द्वेष का अभाव होकर ज्ञातास्वभाव पूर्ण प्रगट हुआ, वह किसे नहीं जानेगा? वह एक समय में सबको जानता है, इसका नाम सर्वज्ञपद है। ऐसा सर्वज्ञपद प्रगट करके अनन्त जीव मुक्त हो गये हैं। इस समय इस भरतक्षेत्र में ऐसे सर्वज्ञ नहीं हैं, परन्तु महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान आदि सर्वज्ञरूप से अरिहन्तदशा में इस समय भी विचर रहे हैं। सर्वज्ञ भगवान जैसा ही प्रत्येक आत्मा का परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है;—ऐसे अपने स्वभाव को पहचान कर उसी के आश्रय से आत्मा मुक्ति प्राप्त करना है। इसके अतिरिक्त किन्हीं भगवान की कृपा से आत्मा पार नहीं होता, और न किसी की अकृपा से परिभ्रमण करता है; स्वयं अपनी भूल से परिभ्रमण करता है और स्वयं ही अपनी भूल को दूर करके भगवान होता है।

हे जीव! अपने तत्त्व की महिमा तूने नहीं जानी, इससे उसे कहीं अन्यत्र दे दी। स्वयं अपने से स्वतन्त्र और परिपूर्ण है, उसे भूलकर, 'कोई दूसरा मुझे तार देगा'—इस प्रकार पर का आश्रय मान लिया है; परन्तु भाई! तेरी मुक्ति किसी दूसरे के आधार से नहीं है; अपने स्वभाव के आधार से ही तेरी मुक्ति है, इसलिए उसे पहचान!

ग्राहकों को सूचना

आत्मधर्म मासिक की किसी भी प्रकार की शिकायत और वी.पी. मनीआर्डर सम्बन्धी व्यवहार निम्न पते पर करें ।

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

महा पवित्र दशलक्षण पर्व

भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक के दस दिनों को ''दशलक्षण पर्व'' कहा जाता है; सनातन जैनशासन में इसी को पर्यूषण पर्व कहते हैं। शास्त्रों में तो दशलक्षपर्व वर्ष में तीन बार आने का वर्णन है, किन्तु वर्तमान में भाद्रपद मास में ही उसकी प्रसिद्धि है। इस धार्मिक पर्व की वीतरागी जिनशासन में अपार महिमा है।

जैनशासन का यह पवित्र धर्म अनादिकालीन है। इस पर्व सम्बन्धी इतिहास इस प्रकार हैः—प्रत्येक काल में अवसर्पिणीकाल का पंचम आरा पूर्ण होने के पश्चात् छट्ठा आरा प्रारम्भ होता है, और लोग अनार्यवृत्तिवाले हिंसक एवं माँसाहारी हो जाते हैं; उसके पश्चात् उत्सर्पिणीकाल के प्रारम्भ में अषाढ़वदी❖ एकम से प्रारम्भ होकर ४९ दिनों में अमुक प्रकार की बरसात, पवन आती है और फल-फूलादि पकते हैं। वह देखकर लोगों के मन में आर्यबुद्धि पैदा होती है और तभी से वे माँसाहार इत्यादि हिंसक वृत्तिओं को छोड़कर उन फल-फूलों से जीवन निर्वाह करते हैं; इस प्रकार भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन चिरकाल से चली आ रही अनार्यता और हिंसकवृत्ति पलटकर लोगों में आर्यता, सरलता, क्षमाभाव प्रगट होते हैं; इसी से उस दिन से प्रारम्भ करके दस दिन तक दशलक्षण पर्व मनाया जाता है। भाद्रपद शुक्ला ५ से १४ तक के दस दिन अनुक्रम से १-उत्तम-क्षमा, २-मार्दव (निरभिमानता) ३-आर्जव (सरलता), ४-शौच (निर्लोभता),५-सत्य, ६-संयम, ७-तप, ८-त्याग, ९-आकिंचन्य (अकिंचनपना) और १०-ब्रह्मचर्य धर्म के दिन माने जाते हैं और दस दिनों के बीच दस धर्मों के स्वरूप का वर्णन, उनके माहात्म्य का चिन्तवन, उनकी प्राप्ति का अभ्यास और भावना की जाती है।

चारित्रदशा में झूलते हुए मुनिवरों के उत्तमक्षमादि दस प्रकार के धर्म होते हैं। भाद्रपद शुक्ला ५ से १४ तक दस दिन के बीच इन दस धर्मों की क्रमानुसार भावना भायी जाती है, इसी से उन दस दिनों को 'दशलक्षण पर्व' कहा जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह भाद्रपद शुक्ला पंचमी आदि दिन तो कालद्रव्य की दशा है—उसमें उत्तमक्षमादि धर्म नहीं है, किन्तु आत्मा में सम्यक्दर्शनपूर्वक वीतरागभाव प्रगट करना ही उत्तमक्षमा धर्म का पर्व है, और चाहे जिस समय आत्मा यह भाव प्रगट कर सकता है। तिथि के आधार से धर्म नहीं; किन्तु आत्मा के आधार से धर्म हैं।

❖ जैनशासन के नियम अनुसार नूतन युग का प्रारम्भ और नूतनवर्ष का प्रारम्भ अषाढ़ वदी एकम् से ही होता है?

पर्व अर्थात् मंगलकाल, पवित्र अवसर। वास्तव में अपने आत्मस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक जो निर्मल वीतरागी दशा प्रगट की, वही यथार्थ पर्व है, वही आत्मा का मंगलकाल है और वही पवित्र अवसर है। जहाँ ऐसा भावपर्व हो, वहाँ बाह्य द्रव्य-क्षेत्रकाल को उपचार से पर्व कहा जाता है। यथार्थरीति से तो आत्मा के शुद्ध भावों में ही पर्व है; रागादि में अथवा बाह्य पदार्थों में पर्व नहीं है। इतना भेदज्ञान रखकर ही प्रत्येक कथन का अर्थ समझना चाहिए। पर्वों का प्रयोजन आत्मा के वीतरागभाव की वृद्धि करने का है।

परन्तु वर्तमान में तो अधिकांश लोग यह नहीं जानते कि उत्तमक्षमादि धर्मों का सत्य स्वरूप क्या है; और उसे जानने का प्रयोजन रखे बिना, मात्र रूढ़ि के अनुसार दस दिनों को मनाकर अपने को कृतकृत्य समझते हैं। परिणाम यह होता है कि वे आत्मा के उत्तमक्षमादि धर्मों का स्वरूप न जानने से उस धर्म की सच्ची उपासना नहीं कर पाते और आत्म-कल्याण से तो वे वंचित ही रहते हैं। जो आत्मा का स्वरूप समझकर अपने में उत्तमक्षमादि धर्म की आराधना प्रगट करे, उसने ही यथार्थरीति से दशलक्षण पर्व को मनाया—ऐसा कहा जाये।

वीर सम्वत् २४७६ के दशलक्षण पर्व के दिनों मे सोनगढ़ में परमपूज्य श्री कानजीस्वामी ने श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव द्वारा रचित पद्मनन्दिपंचविंशतिका में से उत्तम-क्षमाादि दस धर्मों के व्याख्यान किये थे। वे व्याख्यान दशलक्षण धर्म नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए हैं, उसमें दशधर्मों का यथार्थस्वरूप अपूर्वरीति से समझाया है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का महान सूत्र है कि—'दंसण मूलो धम्मो' अर्थात् धर्म का मूल सम्यक्दर्शन है; उसके अनुसार इन उत्तमक्षमादि दसधर्मों का मूल भी सम्यग्दर्शन ही है—यह बात इन प्रवचनों में यथार्थरीति से समझायी गई है; तथा यह उत्तमक्षमादि दसधर्म मुख्यतः मुनियों के धर्म हैं; किन्तु गृहस्थ-श्रावकों के भी सम्यग्दर्शनपूर्वक के उत्तमक्षमादि धर्म किसप्रकार हो सकते हैं—वह भी इसमें बतलाया है।

आत्मार्थी जीवो! 'दशलक्षण धर्म' पर किये गये पूज्य श्री कानजीस्वामी के इन प्रवचनों द्वारा उत्तम-क्षमादि दसधर्मों का यथार्थ स्वरूप समझो और अपने आत्मा में उनकी आराधना प्रगट करो।

भाई! तू अपना सुधार!

[समयसार-बन्ध अधिकार, गाथा २६६ पर पूज्य श्री कानजी स्वमी के प्रवचन से]

मैं पर का कर सकता हूँ–ऐसी जिसने मान्यता की है, उसने पर को और अपने को एक माना है। मैं दूसरों को शिक्षा दे सकता हूँ–ऐसा माना, उसने दो भिन्न पदार्थों को एक माना है। इसको बँधा दूँ, और इसको छुड़ा दूँ–ऐसा भाव, उसकी मानी हुई मान्यता की अर्थक्रिया नहीं कर सकता, इसलिए वह अभिप्राय त्रिकाल मिथ्या है। जिसमें त्रिकाल नियम लागू पड़े, उसे सिद्धान्त कहते हैं; इसलिए उस नियमानुसार पर में पर का व्यापार न होने से वह अध्यवसान पर की अर्थक्रिया करने में असमर्थ है; इसलिए पर को बँधाना और छुड़ाना–ऐसा अभिप्राय त्रिकाल मिथ्या है।

क्या अज्ञानभाव से राग-द्वेष हो, उससे जीव दूसरों का कर सकता है? दूसरों को सुखी-दुःखी कर सकता है? दूसरों के जीवन-मरण कर सकता है? दूसरों की बन्ध-मुक्ति कर सकता है? नहीं कर सकता। इससे उसकी मान्यताानुसार नहीं हुआ; इसलिए उसका अभिप्राय मिथ्या है।

मैं आकाश के फूल को तोड़ता हूँ–वह अभिप्राय बिल्कुल मूर्खतापूर्ण है। उसी प्रकार मैं दूसरों को जीवित रखूँ–मार डालूँ, बद्ध-मुक्त करूँ–वह अभिप्राय भी बिल्कुल मूर्खतापूर्ण है। तू अपने में ही उल्टे और सीधे भाव कर सकता है; पर का कुछ भी करने का सामर्थ्य तुझमें नहीं है।

आचार्यदेव ने आकाश के फूल का कैसा अच्छा न्याय दिया है! जिस प्रकार 'आकाश के फूल को तोडूँ' वह भाव मिथ्या है; उसी प्रकार मैं 'पर को जीवित रखूँ–मार डालूँ, बुद्ध–मुक्त करूँ'–वह भाव भी आकाश के फूल को तोड़ने जैसा मिथ्या है। उस भाव से अपनी धारणानुसार नहीं होता, इसलिए अनर्थ करता है। आत्मा के अतिरिक्त शरीर, वाणी, मन का मैं करता हूँ और दूसरे-परपदार्थों का भी मैं करता हूँ–यह अभिप्राय केवल अनर्थरूप है। अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि–'पुत्र-पुत्रियों को पाल-पोषकर, शादी-ब्याह करके–सब ठीक-ठीक करके फिर धर्म करेंगे।' वह अभिप्राय किंचित् लाभरूप नहीं है; मात्र अनर्थरूप ही है। पर का तू कुछ भी नहीं कर सकता; इसलिए पर तेरे आश्रित नहीं है और न तू पर के आश्रित है–तब फिर तुझे मिथ्या मान्यता से अनर्थ के कितने विचार करना हैं? अपना कितना बिगाड़ करना है? तू इसका आश्रित नहीं है और यह तेरा आश्रित नहीं है, तेरा भाव तुझमें स्वतन्त्र है और इसका भाव इसमें स्वतन्त्र है; पर का कुछ भी तेरी धारणानुसार नहीं होता; तो फिर विषयाादि में सुख-बुद्धि रखकर तुझे अपना कितना बिगाड़ना है? तुझे अपना बिगाड़ना है या सुधारना? इसलिए भाई! चिदानन्द आत्मा की प्रतीति करके, उसका ज्ञान करके, उसमें स्थिर हो! वह तेरे हाथ की बात है, वही मुक्ति का मार्ग है।

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द, मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-(अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-(अमरेली)